P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-9*(Part-2) May- 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

लोक–शास्त्र द्वन्द और वार्ता–साहित्य

सारांश

हिन्दी साहित्य के इतिहास–लेखन में मध्यकालीन वार्ता–साहित्य का स्थान महत्वपूर्ण है। न केवल उसके साहित्यिक अवदान के लिए अपितु हिन्दी साहित्येतिहास को निर्मित करने तथा उसे प्रमाणिक करने के संदर्भ में भी। अतः वार्ता साहित्य का अध्ययन हिन्दी साहित्येतिहास को ओर अधिक वस्तुनिष्ठ बनाने की दिशा में बढ़ने के लिए आवश्यक हो जाता है। यह लेख वार्ता साहित्य के अध्ययन को केन्द्र में रखते हुए लोक तथा शास्त्र के संबंधों पर बात करता है। इस संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करते हुए लोक–शास्त्र द्वन्द्व को समझने की कोशिश की गई है। लोक–शास्त्र संबंध को किस दिशा में देखा जाये – यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। वहीं मध्यकाल तथा आधुनिक काल में मौजूद दृष्टिगत भिन्नता को चिंहित किया गया है। वार्ता–साहित्य के संदर्भ में यह संबंध उसके ऐतिहासिक चरित्र को समझने के लिए महत्वपूर्ण हो जाता है।

मुख्य शब्द : लोक, शास्त्र, मध्यकालीन हिन्दी साहित्य, वार्ता–साहित्य।

रजत शर्मा
शोधार्थी,
हिन्दी विभाग,
साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय,
रायसेन, म.प्र., भारत

प्रस्तावना

वार्ता–साहित्य का अध्ययन करते हुए पहला प्रश्न उसके लोक तथा शास्त्र की सीमाओं के संदर्भ में खड़ा होता है। हिन्दी वार्ता साहित्य मूलतः ब्रज का आश्रय ग्रहण करता है। ब्रज लोकभाषा है। जबकि मध्यकाल में उसकी व्यापकता उसे एक शिष्ट साहित्यिक भाषा का दर्जा देती है। यह स्मरण रखना होगा कि 'ब्रजभाषा' आधुनिक दृष्टि के अनुरूप 'भाषा' (जिसका अपना एक लोक, जन, व्याकरणिक ढाँचा हो आदि) का दर्जा हासिल नहीं करती। ऐसे में वार्ता साहित्य को लोक–साहित्य माने अथवा शिष्ट–साहित्य में स्थान दे यह बड़ा प्रश्न खड़ा होता है। दरअसल यह सीमा शिष्ट और अशिष्ट की ही सीमा है। जो लोक और शास्त्र को भिन्न रूप में स्वीकार करती है। इसे लोक की बर्कर द्वारा की गई व्याख्या के आधार पर समझा जाना आवश्यक है। बर्कर लोक को परिभाषित करते हुए लिखते है कि

> ''एक आदिम जाति में वे सभी व्यक्ति 'लोक' (फोक) होते हैं जिनसे वह समुदाय बनता है और व्यापक अर्थ में यह शब्द सभ्य राष्ट्र की समस्त जनसंख्या के लिए प्रयुक्त हो सकता है। फिर भी पाश्चात्य प्रकार की सभ्यता की दृष्टि से इस शब्द का साधारण प्रयोग (फोकलोर और फोकम्यूजिक जैसे समस्त पदों में) संकुचित अर्थ में केवल उन्हीं के लिए होता है, जो नागरिक संस्कृति की धाराओं तथा विधिवत् शिक्षा से बाहर होते हैं, जो निरक्षर अथवा अल्पसाक्षर होते हैं तथा जो गाँवों और जनपदों में रहते हैं।''[1]

शिष्ट से इतर अशिष्ट को 'लोक' की मूल प्रवृत्ति के रूप में देखना स्वयं में एक समस्या है। दरअसल यह दृष्टि एक मानक के निर्धारण के साथ उसके विपरीत में उपस्थित वस्तु अथवा दृष्टि को विपरीतार्थक रूप में प्रस्तुत करती है। यही दृष्टि ब्रज (लोकभाषा) तथा मानक हिन्दी (शिष्टभाषा) के बीच की सीमा को भी निर्मित तथा निर्धारित करती है। मानकीकरण करने की यह प्रवृत्ति आधुनिककाल की देन है। वर्तमान समय में हिन्दी साहित्य का अध्ययन करते हुए लोकभाषा तथा शास्त्रीय भाषा की भेदपरक दृष्टि हावी होती देखी जा सकती है। हिन्दी साहित्य का अकादमिक क्षेत्र मध्यकालीन साहित्य के संदर्भ में शिष्ट तथा लोक के स्पष्ट द्वैत से बचता ही दिखाई देता है। हिन्दी साहित्य ब्रज के तत्कालीन प्रभाव को स्वीकारता है। वह उसे मध्यकाल की शिष्ट साहित्यिक भाषा मानता है। परन्तु उसे शास्त्रीय भाषा के रूप में स्वीकार नहीं करता। इस कारण वह मध्यकालीन साहित्य को मात्र साहित्यिक कर्म के रूप में ही स्वीकार करता है। इसी कम में तत्कालीन युग से संबंधित किसी वस्तुनिष्ठ सत्य की

जानकारी हिन्दी साहित्य से सम्भव नहीं है यही भाव मध्यकालीन साहित्य के संदर्भ में सामान्य मानस का भाव बन चुका है। एक बात स्मरण रखने की है कि मध्यकाल में शिष्ट–अशिष्ट की दृष्टि वर्तमान नहीं थी। हाँ! संस्कृत को अवश्य ही शास्त्रीय भाषा का दर्जा दिया गया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि शेष भाषाएँ अशास्त्रीय हो जाये। लोकभाषा भी शास्त्रीय ज्ञान को वहन करती है, वह भी जनसमुदाय तक शास्त्रीय ज्ञान को पहुँचाने के लिए। भारतीय वाङ्ग्मय की एक विशेषता उसका 'श्रुत' परम्परा द्वारा निर्मित होना है। यह परम्परा मानक और अमानक की दृष्टि निर्मित नहीं करती। अपितु लोक तथा शास्त्र के साझा अस्तित्व को स्वीकारती है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यहाँ सह–अस्तित्व के स्थान पर साझा अस्तित्व मायने रखता है। जो भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषता है। भारतीय संस्कृति के साझा अस्तित्व की दृष्टि पर बात करते हुए शिवदयाल लिखते है –

> ''यहाँ सह–अस्तित्व नहीं, साझा अस्तित्व है, co-existence नहीं है, shared existence है। सह–अस्तित्व में एक प्रकार का दबाव है, मजबूरी है, अधिकार का दावा है, प्रत्याशा भी। साझा अस्तित्व में कर्तव्यबोध है, त्याग है, समवेदना और आकुलता है।... इसी नैतिकबोध पर अवलंबित जीवन–दृष्टि से भारतीय परंपरा भी विकसित हुई। राष्ट्रवाद, परंपरा, मूल्य–विधान और धर्म – ये सभी एक ही समुच्चय का निर्माण करते हैं, या उसके अंग हैं, जिसे भारतीय संस्कृति कह सकते हैं। ये अंग स्वायत्त हो सकते हैं, स्वतंत्र नहीं; क्योंकि एक के बिना दूसरे का होना कोई अर्थ नहीं रखता।''[2]

साझा–अस्तित्व की यह दृष्टि संस्कृत और ब्रज को समान रूप से महत्वपूर्ण बना देती है। इस क्रम में लोकभाषा ज्ञान की वाहक बनती है। दूसरे शब्दों में वह शास्त्रीय ज्ञान तथा लोक के मध्य महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। जिसे केवल संवेदनात्मक तथा विचारशील साहित्य की सीमा से इतर भी देखने की आवश्यकता है। वार्ता–साहित्य का अध्ययन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हो जाता है।

मध्यकाल में शास्त्र तथा लोक का भेद स्पष्टतः स्वीकृत नहीं था। यह भेद आधुनिक दृष्टि का प्रतिफल है। आधुनिक काल की विश्लेषणात्मक दृष्टि अध्ययन को वस्तुनिष्ठ करने के उद्देश्य से भेदपरक प्रवृत्ति के द्वारा ज्ञान की स्वतंत्र धाराओं को विकसित करती है। जबकि मध्यकालीन दृष्टि साझा अस्तित्व की अखण्डात्मक प्रवृत्ति को धारण करती है। यह दृष्टि मूलतः भारतीय संश्लेषणपूर्ण दृष्टि के रूप में देखी जा सकती है। भारतीय संस्कृति की यह प्रवृत्ति ईश्वर की आध्यात्मिक अखण्डता में दिखाई देती है। यहीं दृष्टि भारतीय मानस की अखण्डात्मक प्रवृत्ति को भी निर्मित करती है। यहीं अखण्डता साहित्य में संश्लेषणात्मकता के साथ दिखाई देती है। यह अखण्डता वार्ता–साहित्य में इतिहास, समाजशास्त्र, साहित्य, भाषा–विज्ञान आदि के संश्लिष्ट सूत्रों को समाहित करती है। शास्त्र और लोक इसी क्रम में पूरक रूप में दिखाई देते हैं।शास्त्र तथा लोक की विभाजनपरक दृष्टि मध्यकाल में दिखाई नहीं देती। स्पष्ट रूप में कहा जाये तो यह भारतीय संस्कृति को ही अभिव्यक्त करती है। विद्यानिवास मिश्र लिखते है –

> ''शास्त्रविधि जाननेवाले व्यक्ति को इस पक्ष का भी ध्यान रहता है। लोक की उपेक्षा करने वाली विधि शास्त्र का निषेध है।''[3]

लोक की महत्ता का आभास रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन से हो जाती है –

> ''सच्चा कवि वही है जिसे लोक–हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोकहृदय में लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।''[4]

शुक्ल जी की दृष्टि में लोक दर्शक नहीं सर्जक है। वह कहते है –

> ''मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। लोक के भीतर ही कविता क्या, किसी भी कला का प्रयोजन और विकास होता है।''[5]

शुक्ल जी जिस दृष्टि को साहित्यिक मूल्यांकन का आधार बनाते है। वह दृष्टि उन्हें परम्परा द्वारा ही प्राप्त होती है।

वार्ता–साहित्य उन विषयों को समान रूप से स्थान देता है जो शास्त्र में कहीं–न–कहीं अभिव्यक्त हुए है। चौबीस अवतारों की कथा, द्वादश प्रधान भक्त, षोडश पार्षद, अठारह पुराण, अठारह स्मृतियाँ, सप्तद्वीप आदि का वर्णन वार्ता–साहित्य के अंतर्गत आरम्भ मे ही होता है। यदि वार्ता–साहित्य के मूल ध्येय को देखे तो वह भक्त तथा कवियों को श्रद्धा के साथ स्मरण करने का रहा है। यह स्वरूप संस्कृत के 'श्रीभक्तसहस्त्रनाम' के अनुकरण पर ही दिखाई देता है। और पीछे जाये तो यह परम्परा बौद्ध धर्म में 'थेरो' (ज्येष्ठ) का वंश साहित्य में किये गये वर्णन के अंतर्गत दिखाई देती है। वहीं चरित्र स्मरण की यह प्रवृत्ति पुराण के अंतर्गत पंचलक्षण में दिखाई देती है। आचार्य बलदेव उपाध्याय पुराणों के पंचलक्षणों पर विचार करते हुए लिखते है –

> ''संक्षेप में कहा जा सकता है कि पुराण में सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश (नाना ऋषियों तथा राजाओं की वंशावली), मन्वन्तर (विशिष्ट काल–गणना) तथा वंशानुचरित (प्रसिद्ध राजाओं और ऋषियों का चरित्र) प्रायः उपलब्ध होते है।''[6]

अतः वार्ता साहित्य का मूल्यांकन किसी विशिष्ट अकादमिक ज्ञान के अंतर्गत करना उसके मूल स्वरूप से

दूर होना है। वार्ता–साहित्य का साहित्यिक, ऐतिहासिक, भाषिक तथा सांस्कृतिक महत्व एक व्यापक दृष्टि को निर्मित करता है। परन्तु प्रमुख रूप से साहित्यिक तथा ऐतिहासिक रूप से वार्ता–साहित्य के मूल्यांकन में आधुनिक दृष्टि समस्या पैदा करती है। आधुनिक दृष्टि लिखित प्रारूप के आधार पर ज्ञान की भिन्न–भिन्न धाराओं के मध्य सीमाएँ निर्धारित करती है। जबकि भारतीय साहित्य मूलतः मौखिक परम्पराओं में अधिक विकसित हुआ है। अतः लेखन के विशिष्ट स्वरूप की ओर उसका ध्यान कम ही गया है। भारतीय दृष्टि का ध्यान विषय को अभिव्यक्त करने पर ही अधिक रहा, न कि इस ओर कि अभिव्यक्ति के किस ढंग को अपनाया जाये। यह भारतीय आध्यात्मिकता का परिणाम है। यह आध्यात्मिकता चेतना को प्रमुखता प्रदान करती है। अतः श्रुत परम्परा तथा आध्यात्मिक दृष्टि साहित्य में अभिव्यक्त 'विषय' को प्रमुख बना देती है। लेकिन यह कहना कि अभिव्यक्ति के अंग गौण हो जाते है – गलत होगा। भारतीय छन्द परम्परा का योगदान श्रुत साहित्य को जीवित रखने में रहा है। इसी क्रम में अभिव्यक्ति के अंग (भाषा–शैली) चिंतन के केन्द्र में आते है। विषय को प्रमुखता प्रदान करने वालीयह दृष्टि ही लोक तथा शास्त्र में दो भिन्न स्वरूपों के स्थान पर लोक अभिव्यक्ति के अंगों को स्वीकारते हुए पूरक रूप में दिखाई देती है। विद्यानिवास मिश्र लिखते है –

> ''भारतीय परम्परा जैसाकि बार–बार कहा जा चुका है, केवल शब्द नहीं ढोती, और जब ढोती है तो कोई–न–कोई चेतना भी है – स्थाणुरयं वेदभारः – यह वेदों का भार वहन करने वाला ठूँठा पेड़ है। यह वेदार्थ ग्रहण करने वाली सजीव चेतना नहीं है। वह परम्परा अर्थ–ग्रहण की एक विशिष्ट प्रक्रिया के साथ शब्दों को तैराती चलती है... ।''[7]

अतः वार्ता–साहित्य को लोक और शास्त्र की सीमाओं को मानने से ही साहित्यिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थ के बीच स्वरूपगत विभाजन की दृष्टि स्वतः स्वीकृत हो जाती है। और इस क्रम में उसके ऐतिहासिक महत्व की सामग्री का मूल्यांकन दृष्टि से ओझल हो जाता है। आवश्यकता वार्ता–साहित्य की ऐतिहासिक सामग्री का संश्लेषात्मक अध्ययन करने की है।

निष्कर्ष

वार्ता–साहित्य को इतिहास ग्रन्थ की श्रेणी में न देख सकने की अलग समस्याएँ भी है। आधुनिक दृष्टि इतिहास–लेखन के कुछ निश्चित मानकों को निर्धारित करती है। यह पैमाने इतिहास के वस्तुनिष्ठ स्वरूप पर अधिक जोर देता है। इन मानकों में एक प्रमुख तत्व लिखित एवं मौखिकता के संदर्भ में खड़ा होता है। वार्ता–साहित्य मूलतः मौखिक परम्पराओं की लिखित अभिव्यक्ति है। दूसरा यह मौखिक परम्परा लोक में विकास पाती है। जबकि इसी के समानांतर संस्कृत का शास्त्रीय साहित्य भी विकास पाता है। अतः वार्ता–साहित्य शास्त्रीय परम्पराओं के समान विचार–विमर्श द्वारा विकसित नहीं होता अपितु लोक की संवेदनात्मक चेतना से समृद्ध होता है। जिस तथ्यतात्मक ज्ञान की कसौटी आधुनिक इतिहास दृष्टि के मूल में गतिमान होती है। उस कसौटी पर वार्ता–साहित्य कमतर दिखाई देता है। जबकि लोकमानस के स्तर पर वर्तमान ऐतिहासिक चरित्र कलात्मक रूप से वार्ता–साहित्य में स्थान पाते है। लोक की मौखिक परम्परा ऐतिहासिक चरित्र को कल्पना के पुट द्वारा रूप प्रदान करती है। उनके यथार्थ प्रसंग अतिश्योक्ति के साथ स्थान पाते है। परन्तु इस आधार पर उन चरित्रों की ऐतिहासिकता पर प्रश्न चिह्न लगाना चिंतन का विषय है। यह पात्र मिथकीय चरित्रों के रूप में विकास नहीं पाते। सम्भवतः यह चरित्र लम्बी कालावधि में मिथकीय चरित्र बन भी सकते है और नहीं भी। अतः एक बड़ी जिम्मेदारी अध्ययनकर्ता की हो जाती है कि वह मिथकीय चरित्र तथा लोक प्रसिद्धि प्राप्त चरित्रों में भेद स्थापित करते हुए अध्ययन करे। लोक प्रसिद्धि इन्हें जनमानस में व्याप्त करती है। इसीलिए वार्ता–साहित्य में कथन निर्माण अथवा प्रसंग विवरण देते हुए कहा जाता है कि 'लोक में विख्यायित' अथवा 'लोक में प्रसिद्ध' आदि।

पाद टिप्पणी

1. *"In a primitive community the whole body of persons composing it is 'folk' and in the widest sense of the world it might equally be applied to the whole population of a civilized state. In its common application, however to civilization of the western type (in such compounds of Folklore, Folkmusic etc.) It is narrowed down to include only those who are mainly outside the currents to urban culture and systematic education the lettered or little lettered in habitants of village and country side.") गौतम, डॉ. सुरेश, भारतीय लोक साहित्य कोश, खण्ड 1, संजय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009, पृ.सं. 393)*
2. *शिवदयाल, भारतीय परंपरा, राष्ट्रवाद और लोकतंत्र, समकालीन भारतीय साहित्य, अतिथि संपादक ब्रजेश त्रिपाठी, साहित्य अकादमी, दिल्ली, वर्ष 38 अंक 197, मई–जून 2018*
3. *मिश्र, विद्यानिवास, लोक और शास्त्र : अन्वय और समन्वय, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2015, पृ.सं. 16*
4. *गौतम, डॉ. सुरेश, भारतीय लोक साहित्य कोश, खण्ड 1, संजय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009, पृ. सं. 393*
5. *गौतम, डॉ. सुरेश, भारतीय लोक साहित्य कोश, खण्ड 1, संजय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009, पृ. सं. 393*
6. *उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2015, पृ.सं. 7*
7. *मिश्र, विद्यानिवास, लोक और शास्त्र : अन्वय और समन्वय, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2015, पृ.सं. 14*